

Chapter छः

भगवान् ऋषभदेव के कार्यकलाप

इस अध्याय में भगवान् ऋषभदेव के देह-त्याग का वर्णन है। जब उनका शरीर दावाग्नि में जल रहा था, तब भी वे अपने शरीर से आसक्त न थे। जब कर्म-बीज को ज्ञान की अग्नि से जलाया जाता है, तो दिव्यगुण तथा योगशक्तियाँ स्वतः प्रकट होती हैं, किन्तु तो भी इन योगशक्तियों का भक्तियोग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सामान्य योगी योगशक्तियों से मोहित हो जाता है और उसकी उन्नति रुक जाती है, अतः सिद्ध योगी इनको अच्छा नहीं समझता। मन अस्थिर (चंचल) तथा अविश्वसनीय है, अतः इसे सदैव नियंत्रण (वश) में रखना चाहिए। यहाँ तक कि सौभरि जैसे सिद्ध योगी का मन इतना चंचल

हो गया कि उसकी समस्त योगशक्तियाँ जाती रहीं। मन के चंचल होने से परम सिद्ध योगी भी च्युत हो सकता है। मन इतना चंचल है कि सिद्ध योगी को भी यह इन्द्रियों द्वारा वशीभूत होने पर विवश कर देता है। फलतः समस्त योगियों को उपदेश देने के लिए ही भगवान् ऋषभदेव ने देह-त्याग की क्रिया प्रदर्शित की। दक्षिण भारत में कर्नाट, कोंक, वेंक तथा कुटक प्रदेशों का भ्रमण करते हुए वे कुटकाचल के निकट पहुँचे। अचानक वहाँ जंगल में आग लग गई जिसमें वह जंगल और ऋषभदेव का शरीर जल कर राख बन गया। मुक्त जीव के रूप में ऋषभदेव की लीलाओं का पता कोंक, वेंक तथा कुटक के राजा को था। इस राजा का नाम अर्हत् था। बाद में वह माया के वशीभूत हो गया और इस स्थिति में जैनवाद का प्रवर्तक बना। ऋषभदेव ने ऐसे धर्म नियमों की स्थापना की जिनसे मनुष्य भौतिक बन्धन से मुक्त हो सके। उन्होंने सब प्रकार के नास्तिक कार्यों का अन्त कर दिया। इस धरा में भारतवर्ष नामक स्थान (देश) अत्यन्त पवित्र है, क्योंकि जब-जब परमेश्वर को अवतरित होने की इच्छा हुई, तब वे इसी भूमि में अवतरित हुए।

ऋषभदेव ने उन सभी योगशक्तियों की उपेक्षा की जिनके पीछे तथाकथित योगी फिरते रहते हैं। भक्ति की भव्यता के कारण भक्तगण तथाकथित योगशक्ति में बिल्कुल रुचि नहीं रखते। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त को ओर से सभी शक्तियों का प्रदर्शन करने वाले हैं। भक्ति योगशक्ति से कहीं अधिक मूल्यवान है। कभी कभी भक्त दिग्भ्रमित कर दिए जाते हैं और वे मुक्ति तथा योगशक्तियों की आकांक्षा करने लगते हैं। परमेश्वर इन भक्तों की समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं। भक्ति तो उन्हीं को मिलती है, जो मुक्ति तथा योग की कामना नहीं करते हैं।

राजोवाच

न नूनं भगव आत्मारामाणां योगसमीरितज्ञानावर्जितकर्मबीजानामैश्वर्याणि पुनः क्लेशदानि भवितुमर्हन्ति यदृच्छयोपगतानि. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा परीक्षित ने पूछा; न—नहीं; नूनम्—निस्सन्देह; भगवः—हे सर्वशक्तिमान् शुकदेव गोस्वामी; आत्मारामाणाम्—भक्ति में रत विशुद्ध भक्तों का; योग-समीरित—योग साधना से प्राप्त; ज्ञान—ज्ञान से; अवर्जित—दग्ध; कर्म-बीजानाम्—कर्मरूपी बीजों का; ऐश्वर्याणि—योग शक्तियों से; पुनः—फिर; क्लेशदानि—क्लेश के कारण; भवितुम्—होने में; अर्हन्ति—समर्थ हैं; यदृच्छया—स्वतः, स्वयं ही; उपगतानि—प्राप्त हो जाती हैं।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे भगवन्, जो पूर्णरूपेण विमल हृदय हैं उन्हें

भक्तियोग से ज्ञान प्राप्त होता है और सकाम कर्म के प्रति आसक्ति जलकर राख हो जाती है। ऐसे व्यक्तियों में योग शक्तियाँ स्वतः उत्पन्न होती हैं। इनसे किसी प्रकार का क्लेश नहीं पहुँचता, तो फिर ऋषभदेव ने उनकी उपेक्षा क्यों की?

तात्पर्य : शुद्ध भक्त भगवान् की निरन्तर सेवा करता है। भक्ति करने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है वे उसे स्वतः प्राप्त होती रहती हैं, यद्यपि इसे योगशक्ति के फलस्वरूप माना जा सकता है। कभी-कभी योगी सोना बना कर अपनी तुच्छ योगशक्ति का परिचय देते हैं। थोड़े से सोने से मूर्ख जनता मोहित हो जाती है और योगी के अनेक अनुयायी बन जाते हैं, जो जान-बूझ कर ऐसे तुच्छ मनुष्य को भगवान् मान बैठते हैं। ऐसा योगी अपने को भगवान् कह कर विज्ञापित करता है। किन्तु भक्त को ऐसी जादूगरी करने की आवश्यकता नहीं होती। बिना योग-साधना के ही उसे विश्व भर का इससे भी अधिक ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। ऐसी दशा में ऋषभदेव ने अपनी योग-सिद्धियों को प्रकट करने से इनकार किया। इसीलिए महाराज परीक्षित ने प्रश्न किया कि ऋषभदेव ने भक्त के लिए बाधक न होने वाली इन सिद्धियों को स्वीकार क्यों नहीं किया? भक्त ये ऐश्वर्य से न तो घबड़ाता है, न प्रसन्न होता है। उसका एकमात्र लक्ष्य होता है कि भगवान् को किस प्रकार प्रसन्न रखा जाये। यदि भगवान् के अनुग्रह से भक्त को अभूतपूर्व ऐश्वर्य प्राप्त होता है, तो वह उसका उपयोग ईश्वर की सेवा में करता है। वह ऐश्वर्य से विचलित नहीं होता।

ऋषिरुवाच

सत्यमुक्तं किन्त्विह वा एके न मनसोऽद्धा विश्रम्भमनवस्थानस्य शठकिरात इव सङ्गच्छन्ते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सत्यम्—सत्य वचन; उक्तम्—कहा गया; किन्तु—लेकिन; इह—इस संसार में; वा—अथवा; एके—कुछ; न—नहीं; मनसः—मन का; अद्धा—प्रत्यक्ष, साक्षात्; विश्रम्भम्—विश्वासपात्र; अनवस्थानस्य—अस्थिर होकर; शठ—अत्यन्त चालाक; किरातः—बहेलिया; इव—सदृश; सङ्गच्छन्ते—हो जाते हैं।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया—हे राजन्, तुमने बिल्कुल सत्य कहा है। किन्तु जिस प्रकार चालाक बहेलिया पशुओं को पकड़ने के बाद उन पर विश्वास नहीं करता, क्योंकि वे भाग सकते हैं। उसी प्रकार महापुरुष अपने मन पर भरोसा नहीं करते। दरअसल, वे सदा जागरूक रहते हुए मन की गति पर नजर रखे रहते हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१८.५) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

“यज्ञ, तप और दान रूपी कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, इन्हें अवश्य करना चाहिए (ये कर्तव्य हैं)। वस्तुतः, यज्ञ, दान और तप इत्यादि महात्माओं को भी शुद्ध करने वाले हैं।”

जो संसार से विरक्त होकर संन्यासी हो गये हैं उन्हें “हरे कृष्ण महामंत्र” के कीर्तन का परित्याग नहीं करना चाहिए। संन्यास का अर्थ यह नहीं है कि संकीर्तन यज्ञ को भी त्यागा जाये। इसी प्रकार दान या तपस्या का भी परित्याग नहीं करना चाहिए। मन तथा इन्द्रियों के नियमन की योग-पद्धति का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए। ऋषभदेव ने यह दिखला दिया है कि किस प्रकार से कठिन से कठिन तपस्या की जाती है। उन्होंने अन्य सभी के लिए आदर्श उपस्थित किया है।

तथा चोक्तम्—

न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते ।

यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; च—और; उक्तम्—कहा गया है; न—कदापि नहीं; कुर्यात्—करना चाहिए; कर्हिचित्—किसी समय या किसी से; सख्यम्—मित्रता; मनसि—मन से; हि—निश्चय ही; अनवस्थिते—चंचल; यत्—जिसमें; विश्रम्भात्—अत्यधिक विश्वास करने से; चिरात्—दीर्घ काल तक; चीर्णम्—अभ्यास की गई; चस्कन्द—विचलित हो गयी; तपः—तपस्या; ऐश्वरम्—शिव तथा सौभरि जैसे महापुरुषों की।

सभी विद्वानों ने अपने-अपने मत व्यक्त किये हैं। मन स्वभाव से अत्यन्त चंचल है। मनुष्य को चाहिए कि वे इससे मित्रता न करे। यदि हम मन पर पूर्ण विश्वास करते हैं, तो यह किसी क्षण धोखा दे सकता है। यहाँ तक कि शिवजी श्रीकृष्ण के मोहिनी रूप को देखकर उत्तेजित हो उठे और सौभरि मुनि भी योग की सिद्धावस्था से च्युत हो गये।

तात्पर्य : जो आत्म-जीवन में आगे बढ़ना चाहता है उसका पहला कार्य होगा कि अपने मन तथा इन्द्रियों पर संयम रखे। जैसाकि भगवद्गीता (१५.७) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन ।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

यद्यपि जीवात्माँ परमेश्वर के अंशरूप होने के कारण दिव्य स्थिति को प्राप्त हैं, किन्तु इस जगत में वे अपने मन तथा इन्द्रियों के कारण दुख उठा रही हैं। इन दुखों से उबरने के लिए आवश्यक है कि

मन तथा इन्द्रियों को वश में किया जाये और भौतिक स्थितियों से विरक्त हुआ जाये। मनुष्य को चाहिए कि तप करना न छोड़े। भगवान् ऋषभदेव ने साक्षात् प्रदर्शित किया कि किस प्रकार यह करना चाहिए। श्रीमद्भागवत (९.१९.१७) में इसका विशेष रूप से उल्लेख हुआ है—

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत् ।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी तथा ब्रह्मचारी को स्त्री-संगति से सावधान रहना चाहिए। यहाँ तक कि अपनी माँ, बहन या लड़की के साथ एकान्त में बैठना वर्जित है। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के समाज में, विशेष रूप से पश्चिमी देशों में, स्त्रियों से विलग रह पाना कठिन है। इसीलिए कभी-कभी हमारी आलोचना भी की जाती है, किन्तु हम प्रत्येक प्राणी को “हरे कृष्ण महामंत्र” जपने का समान अधिकार प्रदान कर रहे हैं और इस प्रकार उन्हें आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर बना रहे हैं। यदि हम निष्पाप भाव से हरे कृष्ण महामंत्र का जाप करते रहें तो श्रील हरिदास ठाकुर के अनुग्रह से हम स्त्रियों के आकर्षण से बच सकते हैं। किन्तु यदि हम हरे कृष्ण महामंत्र के जाप में तनिक भी ढिलाई बरतेगे तो हम किसी भी समय स्त्रियों के शिकंजे में आ सकते हैं।

नित्यं ददाति कामस्य च्छिद्रं तमनु येऽरयः ।

योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्रुली ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

नित्यम्—सदा; ददाति—देता है; कामस्य—विषय की; छिद्रम्—सुविधा; तम्—वह (विषय); अनु—पीछा करता हुआ; ये—जो; अरयः—शत्रुजन; योगिनः—आध्यात्मिक जीवन में प्रगति की इच्छा करनेवाला अथवा योगियों का; कृत-मैत्रस्य—मन में विश्वास करके; पत्युः—पति का; जाया इव—पत्नी के समान; पुंश्रुली—व्यभिचारिणी, जार पुरुषों के बहकावे में आने वाली स्त्री।

व्यभिचारिणी स्त्री जार पुरुषों के बहकावे में आसानी से आकर कभी कभी अपने पति का उनसे बध करवा देती है। यदि योगी अपने मन के ऊपर संयम नहीं रखता और उसे अवसर (छूट) प्रदान करता है, तो उसका मन एक प्रकार से काम, क्रोध तथा लोभ जैसे शत्रुओं को प्रश्रय देगा है, जो निश्चय ही योगी को मार डालेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में पुंश्रुली शब्द ऐसी स्त्री के लिए प्रयुक्त है जो पुरुषों के बहकावे में सुगमता से आ जाती है। ऐसी स्त्री का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। दुर्भाग्यवश, इस युग में स्त्रियों को

नियंत्रित नहीं किया जाता। शास्त्रों के निर्देशानुसार स्त्रियों को स्वतंत्र नहीं करना चाहिए। जब स्त्री कन्या रहती है, तो पिता को चाहिए कि उस पर नियंत्रण रखे। जब वह युवती हो जाये तो उसके पति को और वृद्ध होने पर उसके सयाने पुत्रों को उस पर नियंत्रण रखना चाहिए। यदि उसे स्वतंत्रता दी जाती है और पुरुषों के साथ बे रोक टोक उठने-बैठने दिया जाता है, तो वह बिगड़ (भ्रष्ट) जाएगी। ऐसी भ्रष्ट (व्यभिचारिणी) स्त्री, जार पुरुषों के बहकावे में आकर अपने पति का भी वध कर सकती है। यहाँ पर यह उद्धरण इसलिए प्रस्तुत किया गया है, जिससे सांसारिकता से मुक्त होने का इच्छुक योगी सदा ही अपने मन को संयमित रखे। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहा करते थे कि प्रातः काल उठते ही मन को सौ-सौ जूते लगाना चाहिए और सोने के पूर्व मन को झाड़ू से सौ बार पीटना चाहिए। इस प्रकार से मनुष्य का मन संयमित रहता है। असंयमित मन तथा व्यभिचारिणी स्त्री की दशा एक समान है। जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री किसी भी समय अपने पति का वध कर सकती है उसी प्रकार असंयमित मन काम, क्रोध, लोभ, प्रमत्तता, ईर्ष्या तथा मोहवश योगी का वध कर देता है। जब योगी मन द्वारा संचालित होता है, तो वह संसारी स्थिति को प्राप्त होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह मन से उसी प्रकार सतर्क रहे जिस प्रकार व्यभिचारिणी पत्नी से पति को रहना चाहिए।

कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः ।

कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात्को नु तद्बुधः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

कामः—विषय; मन्युः—क्रोध; मदः—घमंड; लोभः—लालच; शोक—पश्चात्ताप; मोह—मोह; भय—डर; आदयः—ये सभी; कर्म-बन्धः—सकाम कर्म के लिए बन्धन स्वरूप; च—तथा; यत्-मूलः—जिसका कारण; स्वीकुर्यात्—स्वीकार करेगा; कः—कौन; नु—निस्संदेह; तत्—वह मन; बुधः—यदि बुद्धिमान है।

काम, क्रोध, मद, लोभ, पश्चात्ताप, मोह तथा भय का मूल कारण तो मन ही है। ये सारे

मिल कर कर्म-बन्धन की रचना करते हैं। भला कौन बुद्धिमान मन पर विश्वास कर सकेगा ?

तात्पर्य : भौतिक बन्धन का मूल कारण मन है। इसका पीछा करने वाले अनेक शत्रु हैं यथा क्रोध, मद, लालच, शोक, मोह तथा भय। मन को वश में करने का सरल उपाय यह है कि उसे कृष्णभावनामृत में संलग्न रखा जाये (स वै मनः कृष्ण-पदार-विन्दयोः)। चूँकि मन का पीछा करने वाले तत्त्व भव-बन्धन लाने वाले हैं, अतः हमें मन पर कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

अथैवमखिललोकपालललामोऽपि विलक्षणैर्जडवदवधूतवेषभाषाचरितैरविलक्षितभगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायविधिमनुशिक्षयन्स्वकलेवरं जिहासुरात्मन्यात्मानमसंव्यवहितमनर्थान्तरभावेनान्वीक्षमाण उपरतानुवृत्तिरुपरराम. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; एवम्—इस प्रकार से; अखिल-लोक-पाल-ललामः—इस ब्रह्माण्ड के समस्त राजाओं के प्रमुख; अपि—यद्यपि; विलक्षणैः—विभिन्न; जड-वत्—जड़-सदृश (मूढ़ के समान); अवधूत-वेष-भाषा-चरितैः—अवधूत के वेष, उसकी भाषा तथा आचरण से; अविलक्षित-भगवत्-प्रभावः—भगवान् के ऐश्वर्य को छिपाते हुए (अपने को सामान्य पुरुष की तरह रखते हुए); योगिनाम्—योगियों का; साम्पराय-विधिम्—इस देह के त्याग की विधि; अनुशिक्षयन्—सिखाते हुए; स्व-कलेवरम्—अपने शरीर को जो किंचित्मात्र भौतिक नहीं था; जिहासुः—सामान्य मनुष्य की भाँति त्यागने की इच्छा से; आत्मनि—आदिपुरुष वासुदेव में; आत्मानम्—अपने आप, भगवान् विष्णु के “आवेश-अवतार” होने से ऋषभदेव स्वयं को; असंव्यवहितम्—माया के व्यवधान के बिना; अनर्थ-अन्तर-भावेन—विष्णुपद में स्वयं; अन्वीक्षमाणः—सदैव देखते हुए; उपरत-अनुवृत्तिः—ऐसा दिखा रहे थे मानो अपना भौतिक शरीर त्याग रहे हों; उपरराम—राजा के रूप में इस लोक की लीलाएँ छोड़ दीं।

भगवान् ऋषभदेव इस ब्रह्माण्ड के समस्त राजाओं में प्रमुख थे, किन्तु अवधूत का भेष तथा उसकी भाषा स्वीकार करके वे इस प्रकार आचरण कर रहे थे मानो जड़ तथा बद्ध जीव हों। फलतः कोई उनके ईश्वरीय ऐश्वर्य को नहीं देख सका। उन्होंने योगियों को देह त्यागने की विधि सिखाने के लिए ही ऐसा आचरण किया; तो भी वे वासुदेव कृष्ण के अंश रूप बने रहे। इस दशा में रहते हुए उन्होंने इस संसार में भगवान् ऋषभदेव के रूप में की गई लीलाओं को त्याग दिया। यदि कोई ऋषभदेव के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए इस सूक्ष्म देह को त्याग सकता है, तो उसे पुनः भौतिक देह नहीं धारण करनी पड़ती।

तात्पर्य : जैसाकि भगवद्गीता (४.९) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्या देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

“हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव और कर्म दिव्य हैं—इस प्रकार जो मनुष्य जान लेता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।”

यह तभी सम्भव है जब कोई परमेश्वर का शाश्वत दास बन जाये। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी तथा साथ ही साथ परमेश्वर दोनों की स्वाभाविक स्थिति को समझे। दोनों का एक ही आध्यात्मिक-रूप है। इस संसार में परमेश्वर का शाश्वत दास बन कर ही पुनर्जन्म से बचा सकता है। यदि मनुष्य अपने को आध्यात्मिक रूप से ठीक रखे और अपने को परमेश्वर का शाश्वत दास मानता रहे तो इस भौतिक शरीर का त्याग करते समय उसे सफलता मिलेगी।

तस्य ह वा एवं मुक्तलिङ्गस्य भगवत ऋषभस्य योगमायावासनया देह इमां जगतीमभिमानाभासेन सङ्क्रममाणः कोङ्कवेङ्ककुटकान्दक्षिणकर्णाटकान्देशान्यदृच्छयोपगतः कुटकाचलोपवन आस्य कृताश्मकवल उन्माद इव मुक्तमूर्धजोऽसंवीत एव विचचार. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस (भगवान् ऋषभदेव) का; ह वा—मानो; एवम्—इस प्रकार; मुक्त-लिङ्गस्य—जिसका स्थूल व सूक्ष्म शरीरों के साथ तादात्म्य नहीं है; भगवतः—भगवान का; ऋषभस्य—ऋषभदेव का; योग-माया-वासनया—भगवान् की लीलाओं हेतु योगमाया की प्राप्ति से; देहः—देह; इमाम्—यह; जगतीम्—पृथ्वी; अभिमान-आभासेन—यह देह भौतिक तत्त्वों से निर्मित है, इस प्रकार के आभास से; सङ्क्रममाणः—भ्रमण करते हुए; कोङ्क-वेङ्क-कुटकान्—कोंक, वेंक तथा कुटक; दक्षिण—दक्षिण भारत में; कर्णाटकान्—कर्नाट राज्य में; देशान्—समस्त देशों; यदृच्छया—अपनी इच्छा से; उपगतः—पहुँचे; कुटकाचल-उपवने—कुटकाचल के निकटस्थ जंगल में; आस्य—मुँह के भीतर; कृत-अश्म-कवलः—मुँह में पत्थर भर कर; उन्मादः इव—पागल के समान; मुक्त-मूर्धजः—मुक्त (बिखरे) केशों से युक्त; असंवीतः—नग्न; एव—ही; विचचार—भ्रमण करने लगे।

वास्तव में भगवान् ऋषभदेव के कोई भौतिक शरीर न था, किन्तु योगमाया से वे अपने शरीर को भौतिक मान रहे थे। अतः सामान्य मनुष्य की भाँति आचरण करके उन्होंने वैसी मानसिकता का त्याग किया। वे संसार भर में घूमने लगे। घूमते-घूमते वे दक्षिण भारत के कर्णाट प्रदेश में पहुँचे जहाँ के रास्ते में कोंक, वेंक तथा कुटक पड़े। इस दिशा में घूमने की उनकी कोई योजना न थी, किन्तु कुटकाचल के निकट उन्होंने एक जंगल में प्रवेश किया। उन्होंने अपने मुँह में पत्थर के टुकड़े भर लिए और जंगल में नग्न तथा बाल बिखरे पागल की भाँति घूमने लगे।

अथ समीरवेगविधूतवेणुविकर्षणजातोग्रदावानलस्तद्वनमालेलिहानः सह तेन ददाह. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; समीर-वेग—वायु के झोंके से; विधूत—झकझोरे हुए; वेणु—बाँसों की; विकर्षण—रगड़ से; जात—उत्पन्न हुई; उग्र—प्रबल; दाव-अनलः—दावाग्नि; तत्—उस; वनम्—कुटकाचल के निकट के जंगल को; आलैलिहानः—चारों ओर से भक्षण करती; सह—संग; तेन—वह शरीर; ददाह—जल कर राख हो गया।

जब वे भटक रहे थे तो प्रबल दावाग्नि लग गई। यह अग्नि वायु से झकझोरे गये बाँसों की रगड़ से उत्पन्न हुई थी। इस अग्नि में कुटकाचल का पूरा जंगल तथा ऋषभदेव का शरीर भस्मसात् हो गए।

तात्पर्य : ऐसी दावाग्नि पशुओं के शरीरों को जला सकती है, किन्तु भगवान् ऋषभदेव नहीं जले, यद्यपि बाह्य रूप से ऐसा लगा कि वे जल गये। भगवान् ऋषभदेव जंगल के समस्त जीवों की परम आत्मा हैं और उनकी आत्मा अग्नि में कदापि नहीं जल सकती। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया

है—*अदाह्योऽयं*—आत्मा अग्नि में नहीं जलती। भगवान् ऋषभदेव की उपस्थिति के कारण जंगल के सभी पशु इस भौतिक बन्धन से मुक्त हो गये।

यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककुटकानां राजार्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणो भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाखण्डमसमञ्जसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिस (भगवान् ऋषभदेव) का; किल अनुचरितम्—परमहंस के रूप में लीलाएँ, वर्णाश्रम सिद्धान्त के नियमों से परे; उपाकर्ण्य—सुन कर; कोङ्क-वेङ्क-कुटकानाम्—कोंक, वेंक तथा कुटक का; राजा—राजा; अर्हत्-नाम—जिसका नाम अर्हत् (अब जैन कहलाता है) था; उपशिक्ष्य—परमहंस रूप में भगवान् ऋषभदेव के कार्यों का अनुकरण करके; कलौ—इस कलियुग में; अधर्म उत्कृष्यमाणे—अधर्म की वृद्धि के कारण; भवितव्येन—भावी द्वारा; विमोहितः—मोहित; स्व-धर्म-पथम्—धर्म-पथ; अकुतः-भयम्—समस्त प्रकार के भयों से मुक्त; अपहाय—त्याग कर (यथा स्वच्छता, सत्यभाषण, इन्द्रियनिग्रह, सादगी, धर्माचरण, ज्ञान का सदप्रयोग); कु-पथ-पाखण्डम्—नास्तिकता का बुरा (उल्टा) मार्ग; असमञ्जसम्—वेदविरुद्ध, अनुचित; निज-मनीषया—अपने मस्तिष्क से; मन्दः—मूढ़; सम्प्रवर्तयिष्यते—प्रचार करेगा, चलायेगा।

शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को आगे बताया कि हे राजन्, कोंक, वेंक तथा कुटक के राजा ने, जिसका नाम अर्हत् था, ऋषभदेव के कार्य-कलापों के विषय में सुना और उसने ऋषभदेव के नियमों का अनुकरण करते हुए एक नवीन धर्म-पद्धति चला दी। पापमय कर्मों के इस युग, कलियुग, का लाभ उठाकर मोहवश राजा अर्हत् ने बाधारहित वैदिक नियमों को छोड़ दिया और वेदविरुद्ध एक नवीन धर्म-पद्धति गढ़ ली। यही जैन धर्म का शुभारम्भ था। अन्य अनेक तथाकथित धर्मों ने इस नास्तिकवाद को ग्रहण किया।

तात्पर्य : जब इस लोक में श्रीकृष्ण विद्यमान थे तो पौण्ड्रक नामक एक व्यक्ति ने नारायण के चतुर्भुज रूप का अनुकरण करते हुए अपने आपको भगवान् घोषित कर दिया। वह श्रीकृष्ण की बराबरी करना चाहता था। इसी प्रकार ऋषभदेव के काल में कोंक तथा वेंक के राजा ने परमहंस का आचरण करते हुए भगवान् ऋषभदेव का अनुकरण किया। उसने एक धर्म चलाया और इस कलियुग में जनता की अधोगति का लाभ उठाया। वैदिक साहित्य में कथित है कि इस कलियुग में लोग किसी को भी परमेश्वर मान कर वेदविरुद्ध किसी भी धर्म-पद्धति को स्वीकार करेंगे। इस युग के व्यक्तियों को *मन्दाः सुमन्द-मतयः* कहा गया है। सामान्यतः उनकी कोई आध्यात्मिक संस्कृति नहीं होती और वे अत्यन्त अधम होते हैं। इसी कारण से वे कोई भी धर्म स्वीकार करेंगे। दुर्भाग्यवश वे वैदिक नियमों को विस्मृत करते हैं। इस युग में अवैदिक नियमों का पालन करते हुए वे अपने को परमेश्वर समझते हैं

और निरीश्वरवादी सम्प्रदाय को विश्व भर में फैलाते हैं।

येन ह वाव कलौ मनुजापसदा देवमायामोहिताः स्वविधिनियोगशौचचारित्रविहीना देवहेलनान्यपव्रतानि निजनिजेच्छया गृह्णाना अस्नानानाचमनाशौचकेशोल्लुञ्चनादीनि कलिनाधर्मबहुलेनोपहतधियो ब्रह्मब्राह्मणयज्ञपुरुषलोकविदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

येन—जिस छद्म धार्मिक प्रकृति से; ह वाव—निश्चय ही; कलौ—इस कलियुग में; मनुज-अपसदाः—अत्यन्त नीच व्यक्ति; देव-माया-मोहिताः—भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहग्रस्त, शक्ति या माया से मोहित; स्व-विधि-नियोग-शौच-चारित्र-विहीनाः—अपने कर्तव्यों के अनुसार निर्मित विधानों, स्वच्छता तथा चरित्र से विहीन (शास्त्र विहित आचारों तथा शौच से रहित); देव-हेलनानि—भगवान् के प्रति तिरस्कार; अपव्रतानि—अपवित्र व्रत, पाखंड; निज-निज-इच्छया—अपनी अपनी रुचि के अनुसार; गृह्णानाः—स्वीकार करते हुए; अस्नान-अनाचमन-अशौच-केश-उल्लुञ्चन-आदीनि—गढ़े हुए धार्मिक नियम यथा अस्नान (न नहाना), मुख न धोना, अशुद्ध रहना तथा केश नुचवाना; कलिना—कलियुग के प्रभाव से; अधर्म-बहुलेन—अधर्म की बहुलता वाले; उपहत-धियः—जिसका अन्तःकरण विनष्ट हो गया है, बुद्धिहीन; ब्रह्म-ब्राह्मण-यज्ञ-पुरुष-लोक-विदूषकाः—वेद, ब्राह्मण, यज्ञ, भगवान् तथा भक्तों की निन्दा करने वाले; प्रायेण—प्रायः; भविष्यन्ति—होंगे।

अधम तथा परमेश्वर की माया से मोहित व्यक्ति मूल वर्णाश्रम धर्म तथा उसके नियमों का परित्याग कर देंगे। वे नित्य तीन बार स्नान करना और ईश्वर की आराधना करना छोड़ देंगे। वे शौच तथा परमेश्वर को त्याग कर अटपटे नियमों को ग्रहण करेंगे। नियमित स्नान न करने अथवा अपना मुख न धोने से वे सदा गंदे रहेंगे और अपने केश नुचवाएँगे। ढोंग धर्म का अनुसरण करते हुए वे फूलेंगे, फलेंगे। इस कलिकाल में लोग अधार्मिक पद्धतियों की ओर अधिक उन्मुख होंगे। फलस्वरूप वे वेद, वेदों के अनुयायी ब्राह्मणों, भगवान् तथा अनेक भक्तों का उपहास करेंगे।

तात्पर्य : आजकल पाश्चात्य देशों के हिप्पी इस वर्णन के अनुरूप हैं। वे गैर-जिम्मेदार तथा असंयमी होते हैं। वे स्नान नहीं करते और वैदिक ज्ञान का मजाक उड़ाते हैं। वे नवीन जीवन-शैलियों एवं धर्मों को गढ़ते रहते हैं। इस समय हिप्पियों के अनेक समूह हैं, किन्तु इनका मूल स्रोत राजा अर्हत् तथा जिसने परमहंस अवस्था को प्राप्त भगवान् ऋषभदेव के कार्यकलापों का अनुकरण किया। अर्हत् को इस बात का ध्यान नहीं हुआ कि यद्यपि ऋषभदेव पागल जैसा आचरण कर रहे थे, किन्तु उनके मल तथा पुरीष सुगन्धित थे जिससे मीलों दूर के प्रान्त सुवासित रहते थे। राजा अर्हत् के अनुयायी जैन कहलाये और बाद में अनेक लोगों ने उनका अनुसरण किया विशेष रूप से हिप्पी उल्लेखनीय हैं, जो मायावाद दर्शन की शाखा से सम्बद्ध हैं, क्योंकि वे अपने को भगवान् मानते हैं। ऐसे लोग वैदिक

नियमों के असली अनुयायी आदर्श ब्राह्मणों का आदर नहीं करते और न उनमें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्थात् परब्रह्म के प्रति आदर-भाव रहता है। इस कलियुग के प्रभाव से वे तरह-तरह के झूठे धर्म गढ़ते रहते हैं।

ते च ह्यर्वाक्तनया निजलोकयात्रयान्धपरम्परयाश्चस्तास्तमस्यन्धे स्वयमेव प्रपतिष्यन्ति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ते—वे लोग जो वेदों का अनुसरण नहीं करते; च—तथा; हि—निश्चय ही; अर्वाक्तनया—वैदिक धर्म के शाश्वत नियमों से विचलित होकर; निज-लोक-यात्रया—स्वेच्छाकृत प्रवृत्ति से; अन्ध-परम्परया—अन्धे अज्ञानी पुरुषों की परम्परा से; आश्रयताः—प्रोत्साहित होकर; तमसि—अज्ञान के अंधकार में; अन्धे—अंधापन; स्वयम् एव—अपने आप; प्रपतिष्यन्ति—गिरेंगे।

अधम लोग अपने अज्ञानवश वैदिक नियमों से हटकर चलने वाली धार्मिक प्रणाली का सूत्रपात करते हैं। वे अपने मानसिक ढोंगों के कारण स्वयं ही घोर अंधकार में गिरते हैं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय को देखना चाहिए जहाँ असुरों के पतन का वर्णन है (१६.१६ तथा १६.२३)।

अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अयम् अवतारः—यह अवतार (भगवान् ऋषभदेव); रजसा—रजोगुण से; उपप्लुत—भरा हुआ; कैवल्य-उपशिक्षण-अर्थः—लोगों को मुक्ति मार्ग की शिक्षा देने के उद्देश्य से।

इस कलियुग में लोग रजो तथा तमो गुणों से भरे हुए हैं। भगवान् ऋषभदेव ने इन लोगों को माया के चंगुल से छुड़ाने के लिए ही अवतार लिया था।

तात्पर्य : कलियुग के लक्षणों की भविष्यवाणी *श्रीमद्भागवत* में बारहवें स्कंध में तृतीय अध्याय के अन्तर्गत की गई है। *लावण्यं केश-धारणम्*। यह भविष्यवाणी की गई है कि पतित जीव कैसा आचरण करेगा। वे लम्बे-लम्बे बाल रखकर अपने को अति सुन्दर मानेंगे या फिर जैनियों की भाँति केशों को नुँच जाएँगे। वे गंदे रहेंगे और अपना मुँह नहीं धोएँगे। जैनी भगवान् ऋषभदेव को अपना प्रवर्तक मानते हैं। यदि ऐसे लोग वास्तव में उनके अनुयायी हैं, तो उन्हें उनकी शिक्षाओं का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। इसी स्कंध के पाँचवें अध्याय में ऋषभदेव ने अपने सौ पुत्रों को माया के चंगुल से बचने का उपदेश दिया है। यदि सचमुच कोई उनके उपदेशों का पालन करे तो वह माया के चंगुल

से छूटकर परम धाम पहुँच सकता है। यदि कोई पंचम अध्याय में दिये गये ऋषभदेव के उपदेशों का पालन करे तो वह निश्चय ही मुक्त हो सकता है। ऋषभदेव ने विशेष रूप से इन पतित आत्माओं को मोक्ष दिलाने के लिए ही अवतार लिया था।

तस्यानुगुणाऽलोकान्गायन्ति—

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या

द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत् ।

गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेः

कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके (ऋषभदेव के); अनुगुणान्—मुक्ति के उपदेशों के अनुसार; श्लोकान्—श्लोक; गायन्ति—गाते हैं, जप करते हैं; अहो—ओह; भुवः—इस पृथ्वी लोक का; सप्त-समुद्र-वत्याः—सात समुद्रों वाले; द्वीपेषु—द्वीपों में से; वर्षेषु—भूभागों में से; अधिपुण्यम्—अन्य किसी द्वीप से अधिक पवित्र; एतत्—यह (भारत-वर्ष); गायन्ति—गायन करते हैं; यत्रत्य-जनाः—इस भूभाग के लोग; मुरारेः—भगवान् मुरारी के; कर्माणि—कार्यों का; भद्राणि—शुभ; अवतारवन्ति—अनेक अवतारों में, यथा ऋषभदेव।

विद्वानजन भगवान् ऋषभदेव के दिव्य गुणों का जाप इस प्रकार करते हैं—“ओह! इस पृथ्वीलोक में सात समुद्र तथा अनेक द्वीप और वर्ष हैं जिनमें से भारतवर्ष सबसे अधिक पवित्र है। भारतवर्ष के लोग भगवान् के कार्यकलापों का, ऋषभदेव तथा अन्य अनेक अवतारों के रूप में, गुणगान करने के अभ्यस्त हैं। ये सारे कार्य मानवता के कल्याण हेतु अत्यन्त शुभ हैं।”

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।

जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार ॥

जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, भारतवर्ष अत्यन्त पवित्र भूमि है। वेदों के अनुयायी भगवान् के विभिन्न अवतारों द्वारा उनसे परिचित हैं और वे वैदिक साहित्य के आदेशों का पालन करते हुए ईश्वर की महिमा का गान करते रहते हैं। मानव-जीवन की कीर्ति (महिमा) का अनुभव हो जाने पर ऐसे पुरुषों को विश्व भर में मानव जीवन के महत्त्व का उपदेश देना चाहिए। यही चैतन्य महाप्रभु का सन्देश है। अधिपुण्यम् शब्द यह सूचित करता है कि संसार में और भी पवित्र प्राणी हैं, किन्तु भारतवर्ष के लोग अधिक पवित्र हैं। फलतः वे मानव जाति के हितार्थ कृष्णभावनामृत को सारे विश्व में फैलाने के लिए उपयुक्त हैं। श्रील मध्वाचार्य ने भी भारत भूमि को महत्ता प्रदान की है— विशेषाद्भारते पुण्यम्।

सारे विश्व में कहीं भी भगवद्भक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु भारतवर्ष के लोग ईश्वर की भक्ति आसानी से समझ सकते हैं। अतः भारतवर्ष का प्रत्येक वासी भगवद्भक्ति द्वारा अपने जीवन को पूर्ण बना सकता है और विश्वभर के प्रत्येक प्राणी के लाभार्थ इस भक्ति (सम्प्रदाय) का प्रचार कर सकता है।

अहो नु वंशो यशसावदातः
 प्रैयव्रतो यत्र पुमान्युराणः ।
 कृतावतारः पुरुषः स आद्य-
 श्रुचार धर्म यदकर्महेतुम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; नु—निस्संदेह; वंशः—वंश; यशसा—चतुर्दिक ख्याति से; अवदातः—अत्यन्त विमल; प्रैयव्रतः—राजा प्रियव्रत का; यत्र—जिसमें; पुमान्—परम पुरुष; पुराणः—आदि; कृत-अवतारः—अवतार लेकर; पुरुषः—भगवान्; सः—उसने; आद्यः—आदि-पुरुष; चचार—आचरण किया; धर्मम्—धार्मिक नियम; यत्—जिससे; अकर्म-हेतुम्—कर्मों के अन्त का कारण।

“ओह! भला मैं प्रियव्रत के वंश के सम्बन्ध में क्या कहूँ जो इतना विमल तथा अत्यन्त विख्यात है। इसी वंश में परम पुरुष भगवान् ने अवतार लिया और कर्मफलों से मुक्त करने वाले धार्मिक नियमों का आचरण किया।”

तात्पर्य : मानव समाज में ऐसे अनेक वंश हैं जिसमें परमेश्वर अवतरित होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने यदुवंश में तथा भगवान् रामचन्द्र ने इक्ष्वाकु अथवा रघुवंश में अवतार लिया। इसी प्रकार ऋषभदेव राजा प्रियव्रत के वंश में प्रकट हुए। ये सभी वंश अत्यन्त विख्यात हैं और इनमें प्रियव्रत का वंश अत्यन्त प्रसिद्ध है।

को न्वस्य काष्ठामपरोऽनुगच्छे-
 न्मनोरथेनाप्यभवस्य योगी ।
 यो योगमायाः स्पृहयत्युदस्ता
 ह्यसत्तया येन कृतप्रयत्नाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—निस्संदेह; अस्य—भगवान् ऋषभदेव का; काष्ठाम्—आदर्श; अपरः—अन्य; अनुगच्छेत्—अनुगमन कर सकता है; मनः-रथेन—मन से; अपि—भी; अभवस्य—अजन्मा का; योगी—योगी; यः—जो; योग-मायाः—योग सिद्धि; स्पृहयति—स्पृहा करता है, कामना करता है; उदस्ताः—ऋषभदेव द्वारा परित्यक्त; हि—ही; असत्तया—अपूर्ण होने से, असत् से; येन—जिसके द्वारा (ऋषभदेव द्वारा); कृत-प्रयत्नाः—यद्यपि सेवा करने के लिए इच्छुक।

“भला ऐसा कौन योगी है जो अपने मन से भी भगवान् ऋषभदेव के आदर्शों का पालन

कर सके? उन्होंने उन समस्त योग-सिद्धियों का तिरस्कार कर दिया था जिसके लिए अन्य योगी लालायित रहते हैं। भला ऐसा कौन योगी है जो भगवान् ऋषभदेव की समता कर सके?"

तात्पर्य : सामान्य रूप से योगी अष्ट सिद्धियों की कामना करते हैं। ये हैं—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राकाम्य, प्राप्ति, ईशित्व, वशित्व तथा कामावसायिता। किन्तु भगवान् ऋषभदेव ने इन भौतिक उपादानों की कभी कामना नहीं की। ऐसी सिद्धियाँ भगवान् की माया द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं। योगसाधना का मुख्य उद्देश्य भगवान् का अनुग्रह और उनकी शरण प्राप्त करना है। किन्तु योगमाया के कारण यह उद्देश्य प्रच्छन्न हो जाता है। फलस्वरूप तथाकथित योगी ऊपरी सिद्धियों के प्रति आकृष्ट होते हैं, अतः वे भगवान् ऋषभदेव की समता नहीं कर सकते।

इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत् ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणं परममहामङ्गलायनमिदमनुश्रद्धयोपचितयानुशृणोत्याश्रावयति वावहितो भगवति तस्मिन्वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ह स्म—निस्संदेह; सकल—सम्पूर्ण; वेद—ज्ञान का; लोक—जनता का; देव—देवताओं का; ब्राह्मण—समस्त ब्राह्मणों का; गवाम्—गायों का; परम—परम; गुरोः—गुरु, स्वामी; भगवतः—भगवान् का; ऋषभ-आख्यस्य—जिसका नाम ऋषभ था; विशुद्ध—शुद्ध; आचरितम्—कार्यकलाप; ईरितम्—अब व्याख्या किया गया; पुंसाम्—प्रत्येक जीवात्मा का; समस्त—सम्पूर्ण; दुश्चरित—पाप कर्म; अभिहरणम्—विनाश करते हुए; परम—अग्रणी; महा—महान्; मङ्गल—कल्याण का; अयनम्—वास, शरण, घर; इदम्—यह; अनुश्रद्धया—श्रद्धा से; उपचितया—बढ़ती हुई; अनुशृणोति—अधिकारी से सुनता है; आश्रावयति—दूसरे से कहता है; वा—अथवा; अवहितः—सावधान होकर; भगवति—भगवान् में; तस्मिन्—उस; वासुदेवे—वासुदेव, श्रीकृष्ण में; एक-अन्ततः—एकान्त भाव से; भक्तिः—भक्ति; अनयोः—श्रोता तथा वक्ता दोनों समूहों का; अपि—निश्चय ही; समनुवर्तते—वास्तव में प्रारम्भ होती है।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा, “ऋषभदेव समस्त वैदिक ज्ञान, मनुष्यों, देवताओं, गायों तथा ब्राह्मणों के स्वामी हैं। मैं पहले ही उनके विशुद्ध, दिव्य कार्य-कलापों का विस्तार से वर्णन कर चुका हूँ जिनसे समस्त जीवात्माओं के पापकर्म मिट जाएँगे। भगवान् ऋषभदेव की लीलाओं का यह वर्णन समस्त मंगल वस्तुओं का आगार है। जो भी आचार्यों का अनुसरण करते हुए इन्हें ध्यान से सुनता या कहता है उसे निश्चय ही भगवान् वासुदेव के चरणकमलों की शुद्ध भक्ति प्राप्त होगी।”

तात्पर्य : भगवान् ऋषभदेव के उपदेश सभी युगों के मनुष्यों के लिए हैं—चाहे सत्ययुग हो अथवा त्रेता, द्वापर या विशेषतया कलियुग। ये उपदेश इतने प्रभावशाली हैं कि इस कलियुग में भी केवल

इनकी व्याख्या करने, आचार्यों का अनुगमन करने या ध्यानपूर्वक सुनने से सिद्धि प्राप्त हो सकती है। जो ऐसा करता है उसे भगवान् वासुदेव की शुद्ध भक्ति का पद प्राप्त हो सकता है। भगवान् तथा उनके भक्तों की लीलाओं का संग्रह *श्रीमद्भागवत* में इस उद्देश्य से किया गया है कि इन्हें सुनने तथा सुनाने वाले शुद्ध हो सकें। *नित्यं भागवत-सेवया।* भक्तों को नियमानुसार, हो सके तो प्रतिदिन चौबीसों घंटे *श्रीमद्भागवत* का पठन, कथन तथा श्रवण करना चाहिए। यह श्री चैतन्य महाप्रभु की सलाह है—*कीर्तनीयः सदा हरिः।* मनुष्य को चाहिए कि या तो वह हरे कृष्ण महामंत्र का जाप करे या *श्रीमद्भागवत* का पाठ करे और इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव, कपिल तथा कृष्ण रूप में प्रकट होने वाले भगवान् के चरित्र तथा उपदेशों को समझे। इस प्रकार भगवान् की दिव्य प्रकृति से परिचित हुआ जा सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो भगवान् के जन्म तथा कर्म के दिव्य स्वभाव को जान लेता है उसे भव-बन्धन से मुक्ति मिल जाती है और वह परम धाम वापस जाता है।

यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिनसंसारपरितापोपतप्यमानमनुसवनं स्नापयन्तस्तथैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्वियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः. ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

यस्याम् एव—जिसमें (कृष्णभावनामृत अथवा भक्ति के अमृत में); कवयः—पण्डित जन, आध्यात्मिक जीवन का दार्शनिक; आत्मानम्—आत्म, स्वयं; अविरतम्—निरन्तर; विविध—अनेक; वृजिन—पापपूर्ण; संसार—भौतिक संसार में; परिताप—दुखों से; उपतप्यमानम्—तपे हुए, दुखी; अनुसवनम्—निरन्तर; स्नापयन्तः—स्नान करते हुए; तथा—उससे; एव—निश्चय ही; परया—महान्; निर्वृत्या—प्रसन्नतापूर्वक; हि—ही; अपवर्गम्—मुक्ति; आत्यन्तिकम्—बिना अवरोध के, निरन्तर; परम-पुरुष-अर्थम्—मानवी सफलताओं में सर्वश्रेष्ठ; अपि—यद्यपि; स्वयम्—स्वयं; आसादितम्—प्राप्त; नो—नहीं; एव—निश्चय ही; आद्वियन्ते—प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं; भगवदीयत्वेन एव—भगवान् से सम्बन्ध होने के कारण; परिसमाप्त-सर्व-अर्थाः—जिनकी समस्त भौतिक कामनाओं का अन्त हो चुका है।

भक्त जन भौतिक संसार के विभिन्न संकटों से मुक्त होने के लिए निरन्तर भक्ति-सरिता में स्नान करते रहते हैं। इससे उन्हें परम आनन्द प्राप्त होता है और साक्षात् मुक्ति उनकी सेवा करने आती है। तो भी वे उस सेवा को स्वीकार नहीं करते, भले ही भगवान् स्वयं क्यों न सेवा के लिए तत्पर हों। भक्तों के लिए मुक्ति महत्त्वहीन है, क्योंकि ईश्वर की दिव्य प्रेमाभक्ति प्राप्त हो जाने पर उनकी प्रत्येक आकांक्षा पूरी हो गई होती है और वे समस्त भौतिक कामनाओं से ऊपर उठ चुके होते हैं।

तात्पर्य : इस संसार के संकटों से मुक्ति चाहने वाले के लिए ईश्वर की भक्ति प्राप्त होना सबसे

बड़ी उपलब्धि होती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (६.२२) में कहा गया है— *यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः*—इसे प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य सोचता है कि इससे बड़ा कोई अन्य लाभ नहीं। ईश्वर की भक्ति प्राप्त होना ईश्वर से अभिन्न नहीं है, अतः उसके बाद और कोई कामना नहीं रह जाती। *मुक्ति* का अभिप्राय है संसार से छुटकारा। बिल्वमंगल ठाकुर कहते हैं— *मुक्तिः मुकुलितांजलिः सेवतेऽस्मान्।* भक्त के लिए मुक्ति बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं है। मुक्ति का अर्थ है अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करना। प्रत्येक जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति ईश्वर के दास की है, अतः जब कोई जीव ईश्वर की प्रेमा-भक्ति में लगा रहता है, तो उसे पहले से मुक्ति प्राप्त हुई रहती है। फलतः भक्त कभी मुक्ति की स्पृहा नहीं करता, भले ही ईश्वर स्वयं क्यों न प्रदान करें।

राजन्पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां

दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः ।

अस्त्वेवमङ्ग भगवान्भजतां मुकुन्दो

मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजन्; पतिः—पालक; गुरुः—गुरु; अलम्—निश्चय ही; भवताम्—आपका; यदूनाम्—यदुवंश का; दैवम्—आराध्य श्रीविग्रह; प्रियः—अत्यन्त प्रिय मित्र; कुल-पतिः—वंश का स्वामी; क्व च—यहाँ तक कि कभी-कभी; किङ्करोः—सेवक; वः—तुम सबका (पांडवों का); अस्तु—हो; एवम्—इस प्रकार; अङ्ग—हे राजा; भगवान्—भगवान्; भजताम्—सेवा में रत भक्तों का; मुकुन्दः—भगवान्; मुक्तिम्—मुक्ति; ददाति—देता है; कर्हिचित्—किसी भी समय; स्म—निस्सन्देह; न—नहीं; भक्ति-योगम्—प्रेमाभक्ति।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजन्, परम पुरुष मुकुन्द सभी पांडवों तथा यदुवंशियों के वास्तविक पालक हैं। वे तुम्हारे गुरु, आराध्य अर्चाविग्रह, मित्र तथा तुम्हारे कर्मों के निदेशक हैं। यही नहीं, वे कभी-कभी दूत या सेवक के रूप में भी तुम्हारे परिवार की सेवा करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे सामान्य सेवकों की तरह कार्य करते हैं। जो ईश्वर की सेवा में लगे रहकर प्रिय पात्र बनना चाहते हैं उन्हें मुक्ति सरलता से मिल जाती है, किन्तु वे अपनी प्रत्यक्ष सेवा करने का अवसर बहुत उनसे कम ही प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित को उपदेश देते हुए शुकदेव गोस्वामी ने राजा को प्रोत्साहित करना उचित समझा, क्योंकि हो सकता है वे अपने मन में विविध राज-वंशों के यशस्वी स्तर के सम्बन्ध में सोच रहे हों। विशेष रूप से यशस्वी वंश प्रियव्रत का है, जिसमें भगवान् ऋषभदेव अवतरित हुए। इसी

प्रकार महाराज ध्रुव के पिता उत्तानपाद का वंश भी यशस्वी था, क्योंकि उसमें राजा पृथु ने जन्म लिया था। महाराज रघु का वंश भी स्तुत्य है, क्योंकि उसमें भगवान् रामचन्द्र प्रकट हुए। जहाँ तक कुरु तथा यदुवंशों का प्रश्न है ये एक ही समय में विद्यमान थे, किन्तु इन दोनों में यदुवंश अधिक यशस्वी था, क्योंकि इसमें भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए। हो सकता है कि महाराज परीक्षित यह सोच रहे हों कि कुरु वंश अन्य वंशों के समान भाग्यशाली नहीं था, क्योंकि इसमें न तो कृष्ण, राम या ऋषभदेव उत्पन्न हुए, न ही महाराज पृथु। इसलिए इस श्लोक में महाराज परीक्षित को शुकदेव गोस्वामी ने विशेष रूप से प्रोत्साहित किया।

कुरुवंश को अधिक यशस्वी माना जा सकता है क्योंकि इसमें पाँच पांडव हुए जिन्होंने शुद्ध भक्ति की। यद्यपि श्रीकृष्ण कुरुवंश में उत्पन्न नहीं हुए थे, किन्तु वे पांडवों की भक्ति से इतने प्रसन्न थे कि उन्होंने पांडवों के परिवार के पालक तथा गुरु के समान आचरण किया। यदुवंश में जन्म लेकर भी श्रीकृष्ण पांडवों के प्रति अधिक स्नेहिल थे। अपने कार्यों से उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि वे यदुवंश की अपेक्षा कुरुवंश को अधिक चाहते थे। वे पांडवों की भक्ति के इतने ऋणी थे कि कभी वे उनके दूत बने तो कभी उन्हें भयानक परिस्थितियों से उबारा। इसलिए महाराज परीक्षित को तनिक भी दुखी नहीं होना चाहिए कि श्रीकृष्ण उनके वंश में नहीं उत्पन्न हुए। भगवान् का अपने शुद्ध भक्तों के प्रति सदैव अधिक झुकाव रहता है और इस क्रिया से स्पष्ट हो जाता है कि भक्तों के लिए मुक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होती। श्रीकृष्ण किसी को मुक्ति भले ही दे दें, किन्तु सबको अपना भक्त बनने का अवसर आसानी से नहीं प्रदान करते। *मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्ति-योगम्*। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से यह सिद्ध हो जाता है कि परमेश्वर से परम सम्बन्ध स्थापित करने का आधार भक्तियोग ही है। यह मुक्ति से कहीं श्रेयस्कर है। ईश्वर के शुद्ध भक्त को मुक्ति स्वतः मिल जाती है।

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णाः

श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः ।

लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोकम्

आख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नित्य-अनुभूत—अपने वास्तविक रूप के प्रति सदैव जागरूक होने के कारण; निज-लाभ-निवृत्त-तृष्णाः—अपने में पूर्ण होने के कारण, कामनारहित; श्रेयसि—जीवन के वास्तविक कल्याण में; अ-तत्-रचनया—देह को आत्मा मानकर भौतिक क्षेत्र में

कर्मों का प्रसार करके; चिर—दीर्घकाल तक; सुप्त—सोया हुआ; बुद्धे:—जिसकी बुद्धि; लोकस्य—लोगों का; य:—जो (भगवान् ऋषभदेव); करुणया—अहैतुकी कृपा से; अभयम्—निर्भय; आत्म-लोकम्—आत्म-स्वरूप; आख्यात्—उपदेश दिया; नम:—नमस्कार है; भगवते—भगवान्; ऋषभाय—ऋषभदेव को; तस्मै—उस ।

भगवान् ऋषभदेव को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध था, अतः वे आत्म-तुष्ट थे और उन्हें किसी बाह्य तुष्टि की आकांक्षा नहीं रह गई थी। अपने में पूर्ण होने के कारण उन्हें किसी सफलता की स्पृहा नहीं थी। जो वृथा ही देहात्मबुद्धि में लगे रहते हैं और भौतिकता का परिवेश तैयार करते हैं, वे अपने वास्तविक हित को नहीं पहचानते। भगवान् ऋषभदेव ने अहैतुकी कृपावश वास्तविक आत्मबुद्धि तथा जीवन लक्ष्य की शिक्षा दी। अतः हम उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : यह इस अध्याय का सारांश है, जिसमें ऋषभदेव के कार्यों का वर्णन है। भगवान् होने के कारण वे स्वयं में पूर्ण हैं। ईश्वर के अंश रूप हम सबों को भगवान् ऋषभदेव के उपदेशों का पालन करना चाहिए और आत्मनिर्भर बनना चाहिए। देहात्मबुद्धि के कारण हमें वृथा की आवश्यकताएँ नहीं बढ़ानी चाहिए। आत्म-सिद्ध होने पर मनुष्य परम तुष्ट रहता है। क्योंकि वह अपने भौतिक दिव्य पद पर स्थित होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५४) में पुष्टि की गई है—*ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति*। समस्त जीवात्माओं का यही लक्ष्य है। इस संसार में स्थित रह कर भी मनुष्य परम सन्तुष्ट हो सकता है और लालसा तथा शोक से रहित हो सकता है यदि *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* में दिये गये भगवान् के उपदेशों का वह पालन करे। आत्म-साक्षात्कार के माध्यम से प्राप्त संतोष *स्वरूपानन्द* कहलाता है। बद्धजीव शाश्वत अंधकार में सुप्त रहकर कभी भी अपना हित नहीं समझ पाता। वह भौतिक जोड़-तोड़ द्वारा सुखी बनना चाहता है, किन्तु यह असम्भव है। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—अज्ञान के कारण बद्धजीव यह नहीं जानता कि उसका वास्तविक हित भगवान् विष्णु के चरणकमलों में शरण प्राप्त करना है। भौतिक वातावरण के जोड़-तोड़ द्वारा सुखी बनने का प्रयास व्यर्थ है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने आचरण तथा उपदेशों के द्वारा बद्धजीवों को प्रकाश दिखाया और यह भी बताया कि अपनी आध्यात्मिक पहचान से किस प्रकार आत्मनिर्भर बनना चाहिए।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत “भगवान् ऋषभदेव के कार्यकलाप” नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।